प्राकृत तथा अपभ्रंश शोधमें-कार्यकी दिशाएँ

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

यद्यपि पश्चिम देशोंमें अनुवादोंके माध्यमसे संस्कृतका परिचय सोलहवीं शताब्दीके अन्त तक हो चुका था, किन्तु पालि-प्राकृतका अध्ययन भाषाके रूपमें भी अठारहवीं शताब्दीसे पूर्व नहीं हो सका। इसका कारण यही था कि उस समय तक पालि-प्राकृतके साहित्यकी कोई जानकारी यूरोपको नहीं थी। संस्कृतकी ओर भी पूर्ण रूपसे विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करनेका श्रेय सर विलियम जोन्सको है। प्राकृतके अध्ययनका सर्वप्रथम उल्लेख चार्ल्स विल्किन्सके 'अभिज्ञानशाकुन्तल'के अध्ययनके साथ मिलता है। इस फ्रांसीसी विद्वान्‌का यह महान् स्वप्न था कि संस्कृत और प्राकृतके साथ शकुन्तला नाटकका सम्पादित संस्करण मेरे द्वारा प्रकाशित हो; परन्तु इस प्रकारके अध्ययनसे प्राकृत भाषा और उसके साहित्यकी कोई जानकारी तब तक नहीं मिल सकी थी। प्राप्त जानकारीके आधार पर हेनरी टामस कोलबुक (१७९७–१८२८ ई०) प्राच्य-विद्याओंके गम्भीर अध्येता थे, जिन्होंने संस्कृतके साथ प्राकृत भाषा, संस्कृत-प्राकृत छन्दःशास्त्र, दर्शन, जैनधर्म, बौद्धधर्म आदि पर विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखे थे।

वास्तवमें आधुनिक युगमें प्राच्य-विद्याओंके क्षेत्रमें जैन साहित्यके अध्ययन व अनुसन्धानका आरम्भ जैन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोजसे प्रारम्भ होता है। उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें बम्बईके शिक्षा-विभागने विभिन्न क्षेत्रोंमें दौरा करके निजी संग्रहोंके हस्तलिखित ग्रन्थोंका विवरण तैयार करनेके लिए कुछ अन्य विद्वानोंके साथ डॉ० जे० जी० बूलरको भी नियुक्त किया था। १८६६ ई० में डॉ० बूलरने बर्लिन (जरमनी) पुस्तकालयके लिए पाँच सौ जैन ग्रन्थ खोजकर भेजे थे। उस समय संग्रहके रूपमें क्रय किये गए तथा भाण्डारकर शोध-संस्थानमें सुरक्षित उन सभी हस्तलिखित ग्रन्थोंके विवरण व आवश्यक जानकारीके रूपमें १८३७–९८ ई० तक समय-समय पर भाण्डारकर, डॉ० बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन और अन्य विद्वानोंकी रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्राच्यविद्या-जगत्‌में यह एक नया आयाम था, जिसने जैनधर्म व प्राकृत भाषा एवं साहित्यकी ओर भारतीय व विदेशी विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया। स्वयं डॉ० बूलरने १८८७ ई० में अपने शोध-कार्यके आधार पर जैनधर्मके सम्बन्धमें एक पुस्तक लिखी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इसका अंगरेजी अनुवाद सन् १९३० ई० में लन्दनसे 'द इण्डियन सेक्ट ऑव द जैन्स' नामसे प्रकाशित हुआ। इस पुस्तकमें डॉ० बूलरने स्पष्ट रूपसे निरूपित किया कि जैनधर्म भारतवर्षके बाहर अन्य देशोंमें भी गया था। इस धर्मका उद्देश्य सभी प्राणियोंको मुक्ति प्रदान करना है।

जैनविद्याके महत्त्वपूर्ण अनुसन्धाताके रूपमें उल्लेखनीय विद्वान् वेबर हैं। बम्बईके शिक्षा-विभागसे अनुमति प्राप्त कर डॉ० बूलरने जिन पाँच सौ ग्रन्थोंको बर्लिन पुस्तकालयमें भेजा था, उनका अध्ययन व अनुशीलन कर वेबरने कई वर्षों तक परिश्रम कर भारतीय साहित्य (Indischen Studien) के रूपमें महान् ग्रन्थ १८८२ ई० में प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ सत्रह जिल्दोंमें निबद्ध है। यद्यपि 'कल्पसूत्र'का अंगरेजी अनुवाद १८४८ ई० में स्टीवेन्सन द्वारा प्रकाशित हो चुका था, किन्तु जैन आगम ग्रन्थोंकी भाषा तथा साहित्यकी ओर तब तक विदेशी विद्वानोंका विशेष रूपसे झुकाव नहीं हुआ था। वेबरने इस साहित्य-

का विशेष महत्त्व प्रतिपादित कर १८५८ ई० में धनेश्वरसूरि कृत 'शत्रुञ्जय माहात्म्य' का सम्पादन कर विस्तृत भूमिका सहित प्रथम बार लिपजिग (जर्मनी) से प्रकाशित कराया । श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ 'भगवतीसूत्र' जो शोध-कार्य वेबरने किया, वह चिरस्मरणीय माना जाता है । यह ग्रन्थ बर्लिनकी विसेन्चाफेन (Wissenchaften) अकादमीसे १८६६–६७ ई० में मुद्रित हुआ था । वेबरने जैनोंके धार्मिक साहित्यके विषयमें विस्तारसे लिखा था, जिसका अंगरेजी अनुवाद स्मिथने प्रकाशित किया था । विण्डिश ने अपने विश्वकोश (Encyclopedia of Indo-Aryan Research) में तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिया है। इस प्रकार जैन विद्याओंके अध्ययनका सूत्रपात करनेवाला तथा शोध व अनुसन्धानकी दिशाओंको निर्दिष्ट करनेवाला विश्वका सर्वप्रथम अध्ययन-केन्द्र जर्मनमें विशेष रूपसे बर्लिन रहा है । होएफर, लास्सन, स्पीगल, फ्रेडरिक हेग, रिचर्ड पिशेल, बेवर, ई० ल्युमन, डॉ० हर्मन जेकोबी, डब्ल्यु० ह्विटमन, वाल्टर शूब्रिंग, लुडविग ऑल्सडोर्फ, नार्मन ब्राउन, क्लास ब्रुह्न, गुस्तेव रॉथ और डब्ल्यु० बी० बोल्ले इत्यादि जर्मन विद्वान् हैं ।

प्राच्यविद्याओंकी भाँति जैनविद्याओंका भी दूसरा महत्त्वपूर्ण अध्ययन-केन्द्र फ्रान्स था । फ्रांसीसी विद्वानोंमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं—ग्युरिनाट । उनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'एसे डि बिब्लियाग्राफि जैन' पेरिससे १९०६ में प्रकाशित हुआ । इसमें विभिन्न जैन विषयोंसे सम्बन्धित ८५२ प्रकाशनोंके सन्दर्भ निहित हैं । 'जैनोंका धर्म' (Religion Jains) पुस्तक उनकी पुस्तकोंमें सर्वाधिक चर्चित रही । यथार्थमें फ्रांसीसी विद्वान् विशेषकर ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक विषयोंपर शोध व अनुसन्धान-कार्य करते रहे । उन्होंने इस दिशामें जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए, वे आज भी उल्लेखनीय हैं । ग्युरिनाटने जैन अभिलेखोंके ऐतिहासिक महत्त्व पर विशेष रूपसे प्रकाश डाला है । उन्होंने जैन ग्रन्थ-सूची-निर्माणके साथ ही उनपर टिप्पण तथा संग्रहोंका भी विवरण प्रस्तुत किया था[1] । वास्तवमें साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धानमें ग्रन्थ-सूचियों का विशेष महत्त्व है । यद्यपि १८९७ ई० में जर्मन विद्वान् अर्नेस्ट ल्युमनने 'ए लिस्ट ऑव द मैन्युस्क्रिप्ट इन द लायब्रेरी एट स्ट्रासबर्ग", वियेना ओरियन्टल जर्नल, जिल्द ११, पृ० २७९ में दो सौ हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रन्थोंका परिचय दिया था, किन्तु ग्युरिनाटके पश्चात् इस दिशामें क्लाट (Klatt) ने महान् कार्य किया था । उन्होंने जैन ग्रन्थोकी लगभग ११००-१२०० पृष्ठोंमें मुद्रित होने योग्य अनुक्रमणिका तैयार की थी, किन्तु दुर्भाग्यसे उस कार्यके पूर्ण होनेके पूर्व ही उनका निधन हो गया । बेवर और अर्नेस्ट ल्युमनने 'इण्डियन एन्टिक्वेरी' में उस बृहत् संकलनके लगभग ५५ पृष्ठ नमूनेके रूपमें मुद्रित कराये थे[2] । भारतवर्षमें इस प्रकारका कार्य सर्वप्रथम बंगालकी एशियाटिक सोसायटीके माध्यमसे प्रकाशमें आया । १८७७ ई० राजेन्द्रलाल मित्रने "ए डिस्क्रिप्टिव केटलाग ऑव संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द लाइब्रेरी ऑव द एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल" कलकत्तासे प्रकाशित किया था, जिसमें कुछ प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं । मुख्य रूपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्यका प्रारम्भ इस देशमें भण्डारकरके प्रकाशित "लिस्ट् ऑव संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज इन द बाम्बे प्रेसीडेन्डी" ग्रन्थसे माना जाता है । इसी शृंखलामें सुपार्श्वदास गुप्त द्वारा सम्पादित "ए कैटलाग ऑव संस्कृत, प्राकृत एण्ड हिन्दी वर्क्स इन

---

१. 'द कन्ट्रिब्युशन ऑव फ्रेन्च एण्ड जर्मन स्कॉलर्स टू जैन स्टडीज", आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ, कलकत्ता, १९६१, पृ० १६६ ।

२. गोपालनारायण बहुरा "जैनवाङ्मयके योरपीय संशोधक", पृ० ७४७-४८ मुनिश्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ ।

द जैन सिद्धान्त भवन, आरा" (१९१९ ई०) एवं दलाल और लालचन्द्र भ० गांधी द्वारा सम्पादित "कैटलाग ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स इन जैसलमेर भाण्डाराज" गायकवाड़ ओ० सी०, बड़ौदा (१९२३ ई०), रायबहादुर हीरालाल, "केटलाग ऑव संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द सी० पी० एण्ड बरार", नागपुर, १९२६ई० आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिकतम खोजोंके आधारपर इस दिशामें कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-सूचियोंका निर्माण हुआ, जिनमें एच० डी० वेलणकरका "केटलाग ऑव प्राकृतिक मैन्युस्क्रिप्ट्स", जिल्द ३-४, बम्बई (१९३० ई०) तथा 'जिनरत्नकोश', पूना (१९४४ ई०), हीरालाल रसिकदास कापड़िया का "डिस्क्रिप्टिव केटलाग ऑव मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द गवर्नमेण्ट मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी", भण्डारकर ओ० रि० इं०, पूना (१९५४ ई०), डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवालका "राजस्थानके जैन शास्त्र-भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूची", भा० १-५ तथा मुनि विजयजीके "ए केटलाग ऑव संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द राजस्थान ओ० रि० इं० जोधपुर कलेक्शन" एवं पुण्यविजयजीके पाटनके जैन भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूचियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रंशके जैन ग्रन्थोंकी प्रकाशित एवं अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूचीके लिए लेखककी भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित पुस्तक "अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी शोध-प्रवृत्तियाँ" पठनीय है, जिसमें अपभ्रंशसे सम्बन्धित सभी प्रकारका विवरण दिया गया है। वास्तवमें जरमन विद्वान् वाल्टर शुब्रिगने सर्वप्रथम जैन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी बृहत् सूची तैयार की थी जो १९४४ ई० में लिपज़िगसे प्रकाशित हुई और जिसमें ११२७ जैन हस्तलिखित ग्रन्थोंका पूर्ण विवरण पाया जाता है। यह सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। इस प्रकारके कार्योंसे ही शोध व अनुसन्धानकी दिशाएँ विभिन्न रूपोंको ग्रहण कर सकीं।

आधुनिक युगमें प्राकृतिक तथा अपभ्रंश विषयक शोध-कार्य मुख्य रूपसे तीन धाराओंमें प्रवाहित रहा है—(१) साहित्यिक अध्ययन, (२) सांस्कृतिक अध्ययन और (३) भाषावैज्ञानिक अध्ययन। साहित्यिक अध्ययनके अन्तर्गत जैन-आगम-साहित्यका अध्ययन प्रमुख है। यह एक असन्दिग्ध तथ्य है कि आधुनिक युगमें जैनागमोंका भलीभाँति अध्ययन कर उनको प्रकाशमें लानेका श्रेय जर्मन विद्वानोंको है। यद्यपि संस्कृत के कतिपय जैन ग्रन्थोंका अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें होने लगा था, किन्तु प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यका सांगोपांग अध्ययन डॉ० हर्मन जेकोबीसे आरम्भ होता है। डॉ० जेकोबीने कई प्राकृत जैन ग्रन्थों का सम्पादन कर उनपर महत्त्वपूर्ण टिप्पण लिखे। उन्होंने सर्वप्रथम श्वेताम्बर जैनागम-ग्रन्थ' भगवतीसूत्र'का सम्पादन कर १८६८ ई० में प्रकाशित किया[1]। तदुपरान्त 'कल्पसूत्र' (१८७९ ई०), "आचारांगसूत्र" (१८८५ ई०) 'उत्तराध्ययनसूत्र' (१८८६ ई०) आदि ग्रन्थोंपर शोध-कार्य कर सम्पादित किया। इसी समय साहित्यिक ग्रन्थोंमें जैन कथाओंकी ओर डॉ० जेकोबीका ध्यान गया। सन् १८९१ ई० में 'उपमितिभव-प्रपंचकथा' का संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व 'कथासंग्रह' १८८६ ई० में प्रकाशित हो चुका था। 'पउमचरियं', 'णेमिणाहचरिउ' और 'सणयकुमारचरिउ' क्रमशः १९१४, १९२१-२२ में प्रकाशित हुए। इसी अध्ययनकी श्रृंखलामें अपभ्रंशका प्रमुख कथाकाव्य 'भविसयत्तकहा' का प्रकाशन सन् १९१८ में प्रथम बार मंचन (जरमनी) से हुआ। इस प्रकार जरमन विद्वानोंके अथक प्रयत्न, परिश्रम तथा लगातार शोध-कार्योंमें संलग्न रहनेके परिणाम स्वरूप ही जैन विद्याओंमें शोध व अनुसन्धानके नए आयाम उन्मुक्त हो सके हैं। ऑल्सडोर्फने 'कुमारपालप्रतिबोध' (१९२८ ई०), हरिवंशपुराण (महापुराणके अन्तर्गत), (१९३६ ई०), उत्तराध्ययनसूत्र, मूलाचार, भगवतीआराधना (१९६८) आदि ग्रन्थोंका सुसम्पादन कर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य पर महान् कार्य किया। वाल्टर शुब्रिगने 'दसवेयालियसुत्तं' का एक सुन्दर संस्करण तथा

---

[1] एफ० विएर्सिगर : जरमन इण्डोलॉजी : पास्ट एण्ड प्रिजेन्ट, बम्बई, १९६९, पृ० २१।

अंगरेजी अनुवाद तैयार किया जो १९३२ में अहमदाबादसे प्रकाशित हुआ। उनके द्वारा ही सम्पादित 'इसिभासियं' भा० २ (१९४३ ई०) प्रकाशित हुए। शुब्रिंग और केल्लटके सम्पादनमें तीन छेदसूत्र "आयारदसाओ, ववहार और निसीह" (१९६६ ई०) हैम्बुर्गसे प्रकाशित हुए। इसी प्रकार जे० एफ० कोलका 'सूर्यप्रज्ञप्ति' (१९३७ इ०), डब्ल्यु० किफेलका 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (१९३७ ई०), हम्मका 'गीयत्थ-विहार' (महानिशीथका छठा अध्ययन) (१९४८ ई०), क्लॉसका 'चउपन्नमहापुरिस चरियं' (१९५५ ई०), नॉर्मनका 'स्थानांगसूत्र'[1] (१९५६), ऑल्सडोर्फका 'इत्थिपरिन्ना' (१९५८ ई०), ए० ऊनोका 'प्रवचनसार' (१९६६ ई०), तथा टी० हनाकीका 'अनुयोगद्वारसूत्र' (१९७०) इत्यादि प्रकाशमें आये।[1] १९२५ ई० में किरफल (Kirfel) ने उपांग 'जीवाजीवाभिगम' के सम्बन्धमें प्रतिपादन कर यह बताया था कि वस्तुतः यह 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' से सम्बद्ध है। सन् १९२६ में वाल्टर शुब्रिंगने अपनी पुस्तक 'वोर्त महावीराज' के परिचयमें जैनागमोंके उद्भव व विकासके साथ ही उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी किया था। सन् १९२९ में हैम्बुर्गसे काम्पत्ज (Kamptz) ने आगमिक प्रकीर्णकोंको लेकर शोधोपाधि हेतु अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर डॉक्टरेट प्राप्त की थी[2]। जैनागमके टीका-साहित्य पर सर्वेक्षणका कार्य अर्नेस्ट ल्युमनने बहुत ही परिश्रमपूर्वक किया था, किन्तु वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। अनन्तर "ओवेरश्चिट् ओवेर दि आवश्यक लिटरेचर" के रूपमें उसे वाल्टर शुब्रिंगने १९३४ ई० में हम्बर्गसे प्रकाशित किया। इस प्रकार जैनागम तथा जैन साहित्यकी शोध-परम्पराके पुरस्कर्ता जरमन विद्वान् रहे हैं। आज भी वहाँ शोध व अनुसन्धानका कार्य गतिमान है। सन् १९३५ में फेडेगन (Faddegon) ने सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्दके 'प्रवचनसार' का अंगरेजी अनुवाद किया था। इस संस्करणकी विशेषता यह है कि आचार्य अमृतचन्द्रकी 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका, व्याख्या व टिप्पणोंसे यह समलंकृत है।[3] ऐसे अनुवादोंकी कमी आज बहुत खटक रही है। इस तरहके प्रकाशनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिये। वर्तमान युगमें सम्यक् भाव-बोधके लिए सम्यक् दिशामें सम्यक् कार्य होना नितान्त अपेक्षित है।

साहित्यिक विधाओंमें जैन कथा-साहित्य पर सर्वप्रथम डॉ० जेकोबीने प्रकाश डाला था। इस दिशा-में प्रमुख रूपसे अर्नेस्ट ल्युमनने पादलिप्तसूरिकी 'तरंगवतीकथा' का जर्मन भाषामें सुन्दर अनुवाद 'दाइ नोन' (Die Nonne) के नामसे १९२१ ई० में प्रकाशित किया था। तदनन्तर हर्टेलने जैन कथाओंपर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। क्लास ब्रुहनने "शीलांकके चउपन्नमहापुरिसचरियं" पर शोधोपाधि प्राप्त कर सन् १९५४ में उसे हैम्बुर्गसे प्रकाशित किया। आर० विलियम्सने 'मणिपतिचरित' के दो रूपोंको प्रस्तुत कर मूल ग्रन्थका अंगरेजी अनुवाद किया। इस तरह समय-समय पर जैन कथा-साहित्य पर शोध-कार्य होता रहा है।

जैनदर्शनके अध्ययनकी परम्परा हमारी जानकारीके अनुसार आधुनिक कालमें अल्ब्रेख्त बेवरके 'फ्रेगमेन्ट आव भगवती' के प्रकाशनसे १८६७ ई० से मानना चाहिए। कदाचित् एच० एच० विल्सनने "ए स्केच ऑव द रिलीजियस सेक्ट्स ऑव द हिन्दूज" (जिल्द १, लन्दन, १८६२ ई०) पुस्तकमें जैनधर्म तथा जैनदर्शनका उल्लेख किया था। किन्तु उस समय तक यही माना जाता था कि जैनधर्म हिन्दूधर्मकी एक शाखा है। किन्तु बेवर, जेकोबी, ग्लासनेप आदि जरमन विद्वानोंके शोध व अनुसन्धान-कार्योंसे यह तथ्य निश्चित व स्थिर हो गया कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र दर्शन व मौलिक परम्परा है। इस दृष्टिसे डॉ०

---

१. संस्कृत एण्ड एलाइड इण्डोलॉजिकल स्टडीज इन यूरोप, १९५६, पृ० ६६।

२. प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना यूनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २१०।

३. वही, पृ० १११।

हेल्मुथ वान ग्लासनेपकी पुस्तक "द डाक्ट्रीन ऑव जर्मन इन जैन फिलासफी" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो सन् १९४२ में बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे जीमर और स्मिथके कार्य विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। एफ० डब्ल्यू० थॉमसने आ० हेमचन्द्र कृत 'स्याद्वादमंजरी' का बहुत सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद अनुवाद किया जो १९६० ई० में बर्लिनसे प्रकाशित हुआ। १९६३ ई० में आर० विलियम्सने स्वतन्त्र रूपसे 'जैनयोग' पर पुस्तक लिखी जो १९६३ ई० में लन्दनसे प्रकाशित हुई। कोलेट केल्लटने जैनोंके श्रावक तथा मुनि आचार विषयक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक "लेस एक्सपिएशन्स डान्स ले रिचुअल एन्शियन डेस रिलिजियक्स जैन" लिखकर १९६५ ई० में पेरिससे प्रकाशित की। वास्तवमें इन सब विषयों पर इस लघु निबन्धमें लिख पाना सम्भव नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि परमाणुवादसे लेकर वनस्पति, रसायन आदि विविध विषयोंका जैनागमोंमें जहाँ-कहीं उल्लेख हुआ है, उनको ध्यानमें रखकर विभिन्न विद्वानोंने पत्र-पत्रिकाओंके साथ ही विश्वकोशोंमें भी उनका विवरण देकर शोध व अनुसन्धानकी दिशाओंको प्रशस्त किया है। उनमेंसे जैनोंके दिगम्बर साहित्य व दर्शन पर जर्मनी विद्वान् वाल्टर डेनेके (Walter Denecke) ने अपने शोध-प्रबन्धमें दिगम्बर आगमिक ग्रन्थोंका भाषा व विषयवस्तु दोनों रूपोंमें पर्यालोचन किया था। उनका प्रबन्ध सन् १९२३ में हैम्बुर्गसे "दिगम्बर-टेक्स्टे : ईने दर्शतेलुंग इहरेर श्प्राख उन्ड इहरेस इन्हाल्ट्स" के नामसे प्रकाशित हुआ था।[१]

भारतीय विद्वानोंमें डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन, पं० बेचरदास दोशी, डॉ० प्रबोध पण्डित, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र, सिद्धान्ताचार्य पं० फुलचन्द्र, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० सुखलाल संघवी, पं० दलसुख भाई मालवणिया, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० एच० सी० भायाणी, डॉ० के० आर० चन्द्र, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, डॉ० प्रेमसुमन और लेखकके नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० उपाध्येने एक दर्जन प्राकृत ग्रन्थोंका सम्पादन कर कीर्तिमान स्थापित किया। अपभ्रंशके 'परमात्मप्रकाश' का सम्पादन आपने ही किया। 'प्रवचनसार' और 'तिलोयपण्णत्ति' जैसे ग्रन्थोंके सफल सम्पादनका श्रेय आपको है। साहित्यिक तथा दार्शनिक—दोनों प्रकारके ग्रन्थोंका आपने सुन्दर सम्पादन किया। आचार्य सिद्धसेनके 'सन्मतिसूत्र' का भी सुन्दर संस्करण आपने प्रस्तुत किया, जो बम्बईसे प्रकाशित हुआ। प्राच्य-विद्याओंके क्षेत्रमें आपका मौलिक एवं अभूतपूर्व योगदान रहा है। डॉ० हीरालाल जैन और सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थ धवला, जयधवला आदिका सम्पादन व अनुवाद कर उसे जनसुलभ बनाया। अपभ्रंश ग्रन्थोंको प्रकाशमें लानेका श्रेय डॉ० हीरालाल जैन, पी० एल० वैद्य, डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, पं० परमानन्द शास्त्री, डॉ० राजाराम जैन, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन और डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्रीको है[२]। पं० परमानन्द जैन शास्त्रीके 'जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह' के पूर्व तक अपभ्रंशकी लगभग २५ रचनाओंका पता चलता था, किन्तु उनके प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित होनेसे १२६ रचनाएँ प्रकाशमें आ गईं। लेखक ने "अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी शोध-प्रवृत्तियाँ" में अपभ्रंशके अज्ञात एवं अप्रकाशित ग्रन्थोंके अंश उद्धृत कर लगभग चारसौ अपभ्रंशके ग्रन्थोंको प्रकाशित कर दिया है। जिन अज्ञात व अप्रकाशित रचनाओंको पुस्तकमें सम्मिलित नहीं किया गया, उनमेंसे कुछ नाम हैं :

१. शीतलनाथकथा (श्री दि० जैन मन्दिर, घियामंडी, मथुरा), २. रविवासरकथा—मधु (श्री दि०

---

१. "प्राकृत स्टडीज आउटसाइड इण्डिया (१९२०-६९)" एस० डी० लद्दू, प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २०९।

२. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी शोध-प्रवृत्तियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, १९७२।

जैन मन्दिर, कामा), ३. आदित्यवारकथा—अर्जुन (श्री दि० जैन पंचायती मन्दिर, दिल्ली)। इनके अतिरिक्त ईडर व नागौरके भण्डारोंमें पाए जानेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश रचनाओंकी भी जानकारी मिली है। उन सबको मिलाकर आज अपभ्रंश-साहित्यकी छोटी-बड़ी रचनाओंको मिलाकर उसकी संख्या पाँच सौ तक पहुँच गई है। शोध व अनुसन्धानकी दिशाओंमें आज एक बहुत बड़ा क्षेत्र विद्वानोंकी राह जोह रहा है। शोध कार्यकी कमी नहीं है, श्रमपूर्वक कार्य करनेवाले विद्वानोंकी कमी है।

विगत तीन दशकोंमें जहाँ प्राकृत व्याकरणोंके कई संस्करण प्रकाशित हुए, वहों रिचर्ड पिशेल, सिल्वांलेवी और डॉ० कीथके अन्तर्निरीक्षणके परिणामस्वरूप संस्कृत नाटकोंमें प्राकृतका महत्त्वपूर्ण योग प्रस्थापित हुआ। आर० श्मितने शौरसेनी प्राकृतके सम्बन्धमें उसके नियमोंका (एलीमेन्टरबुख देर शौरसेनी, हनोवर, १९२४), जार्ज ग्रियर्सनने पैशाची प्राकृतका, डॉ० जेकोबी तथा ऑल्सडोर्फने महाराष्ट्री तथा जैन महाराष्ट्रीका और डब्ल्यु० ई० क्कर्नने मागधी और अर्द्धमागधीका एवं ए० बनर्जी और शास्त्रीने मागधीका (द एवोल्युशन ऑव मागधी, आक्सफोर्ड, १९२२) विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया था। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे नित्ति डोल्चीका विद्वत्तापूर्ण कार्य, 'लेस ग्रैमेरियन्स प्राकृत्स' (पेरिस, १९३८) प्रायः सभी भाषिक अंगों पर प्रकाश डालनेवाला है। नित्ति डोल्चीने पुरुषोत्तमके 'प्राकृतानुशासन' (पेरिस, १९३८) तथा रामशर्मन् तर्कवागीशके 'प्राकृतकल्पतरु' (पेरिस, १९३९) का सुन्दर संस्करण तैयार कर फ्रांसीसी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया। व्याकरणकी दृष्टिसे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य रिचर्ड पिशेलका 'ग्रैमेटिक देअर प्राकृत-श्प्राखन' अद्भुत माना जाता है, जिसका प्रकाशन १९०० ई० में स्ट्रासवर्गसे हुआ।

इधर भाषाविज्ञानकी कई नवीन प्रवृत्तियोंका जन्म तथा विकास हुआ। परिणामतः भाषाशास्त्रके विभिन्न आयामोंका प्रकाशन हुआ। उनमें ध्वविपिज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा शब्दव्युत्पत्ति व शब्दकोशीय अध्ययन प्रमुख कहे जाते हैं। ध्वनिविज्ञान विषयक अध्ययन करनेवालोंमें 'मिडिल इण्डो-आर्यन' के उपसर्ग, प्रत्यय, ध्यनिविषयक पद्धति तथा भाषिक उच्चारों आदिका विश्लेषण किया गया। इस प्रकार के अध्ययन करनेवालोंमें प्रमुख रूपसे आर० एल० टर्नर, एल० ए० स्वाजर्स चाइल्ड, जार्ज एस० लेन, के० आर० नॉर्मनके नाम लिए जा सकते हैं।

एल० ऑल्सडोर्फके नव्य भारतीय आर्य-भाषाओंके उद्गम पर बहुत अच्छा अध्ययन किया जो रूपरचना विषयक है। लूइस एच० ग्रेने "आब्जर्वेशन्स आन मिडिल इण्डियन मार्फोलॉजी" (बुलेटिन स्कूल ऑव ओरियन्टल स्टडीज, लन्दन, जिल्द ८, पृ० ५६३-७७, सन् १९३५-३७) में संस्कृत व वैदिक संस्कृतके रूप-सादृश्योंको ध्यानमें रखकर उनकी समानता व कार्योंका विश्लेषण किया है। इस भाषावैज्ञानिक शाखा पर कार्य करनेवाले उल्लेखनीय विद्वानों व भाषाशास्त्रियोंके नाम हैं—ज्यूल ब्लॉख, एडजर्टन, ए० स्वाजर्स चाइल्ड, के० आर० नॉर्मन, एस० एन० घोषाल, डॉ० के० डेव्रीस :

वाक्य-विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन करनेवाले विद्वानोंमें मुख्य रूपसे डॉ० ऑल्सडोर्फ, डॉ० के० डेव्रीस, एच० हेन्द्रिकसेन, पिसानी आदिके नाम उल्लेखनीय हैं[1]। इस अध्ययनके परिणामस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाशमें आए। एच० हेन्द्रिकसेनने अपने एक लेख "ए सिन्टेक्टिक रूल इन पालि एण्ड अर्द्धमागधी" में कृदन्त-रूपोंके प्रयोगकी वृद्धिगत पाँच अवस्थाओंका उद्घाटन किया है[2]। के० अमृतराव, डॉ० के० डेव्रीस, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, कुइपर आदिने प्राकृत पर द्रविड़ तथा अन्य आर्येतर भाषाओंके प्रभावका अध्ययन किया।

---

[1] प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, पूना युनिवर्सिटी, १९७०, पृ० २२३।

[2] वही, पृ० २३।

भाषाकोशीय तथा व्युत्पत्तिमूलक अध्ययनकी दृष्टिसे डब्ल्यु० एन० ब्राउनका अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना जाता है जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत-महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशके सम्बन्धमें सन् १९३२ में कोशीय टिप्पणियाँ लिखी थीं और सन् १९३५ ई० में 'गौरीशंकर ओझा स्मृतिग्रन्थ' में 'सम लेक्सिकल मटेरियल इन जैन महाराष्ट्री प्राकृत' निबन्धमें वीरदेवगणिन्के 'महीपालचरित' से शब्दकोशीय विवरण प्रस्तुत किया था। ग्रेने अपने शोधपूर्ण निबन्धमें जो कि "फिफ्टीन प्राकृत-इण्डो-युरोपियन एटिमोलाजीज" शीर्षकसे जर्नल ऑव द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी (६०, ३६१–६९) में सन् १९४० में प्रकाशित हुआ था। यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया था कि प्राकृतके कुछ शब्द भारोपीय परिवारके विदेशी शब्द हैं। कोल, जे० ब्लॉख, आर० एल० टर्नर, गुस्तेव रॉथ, कुइपर, के० आर० नॉर्मन, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि भाषावैज्ञानिकोंने शब्द-व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे पर्याप्त अनुशीलन किया। वाकरनागलने प्राकृतके शब्दोंका व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे अच्छा अध्ययन किया।

इसी प्रकार संस्कृत पर प्राकृतका प्रभाव दर्शानेवाले निबन्ध भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहे। उनमेंसे गाइगर स्मृति-ग्रन्थमें प्रकाशित एच० ओरटेलका निबन्ध 'प्राकृतिसिज्म इन छान्दोग्योपनिषद्' (लिपजिग, १९३१) तथा ए० सी० वूलनरके "प्राकृतिक एण्ड नान-आर्यन स्ट्रेटा इन द वाकेबुलरी ऑव संस्कृत" (आशुतोष मेमोरियल वाल्युम, पटना, १९२८), जे० ब्लॉखके कई निबन्ध और एमेन्युके निबन्ध "द डायलेक्ट्स ऑव इण्डो-आर्यन", "सम क्लियर एवीडेन्स ऑव प्राकृतिसिज्म इन पाणिनि" महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं[1]।

इनके अतिरिक्त प्राकृत भाषाके उच्चारण आदिके सम्बन्धमें तथा ध्वन्यात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे डॉ० ग्रियर्सन, स्वार्ज्सचाइल्ड तथा एमेन्यु आदिका अध्ययन-विश्लेषण आज भी महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश करनेवाला है। इस प्रकार भाषा-विज्ञानकी विभिन्न शाखाओं तथा उनकी विविध प्रवृत्तियोंके मूलगत स्वरूपके अध्ययनकी दृष्टिसे भी मध्यभारतीय आर्यभाषाओं और विशेषकर प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओंका आज भी विशेष अध्ययन विशेष रूपसे उपयोगी एवं भाषा-भाषिक संसारमें कई नवीन तथ्योंको प्रकट करनेवाला है। इस दृष्टिसे इन भाषाओंका बहुत कम अध्ययन हुआ है। इतना अवश्य है कि यह दिशा आज भी शोध व अनुसन्धानकी दृष्टिसे समृद्ध तथा नवीन आयामोंको उद्घाटित कर सकती है। यदि हमारी युवा पीढ़ी इस ओर उन्मुख होकर विशेष श्रम तथा अनुशीलन करे, तो सांस्कृतिक अध्ययनके नवीन क्षितिजोंको पारकर स्वर्णिम विहान लाया जा सकता है।

---

१. प्रोसीडिंग्स ऑव द सेमिनार इन प्राकृत स्टडीज, १९७०, पृ० २२५-२२६।